अथ तृतीयोऽध्यायः

३. कर्मयोग

दोहा— सुस्थिरमति-लच्छन-रहनि, एहि बिधि, कुरु-कुल-नाथ।
हरि-मुख सुनि अरजुन, बहुरि बोले होइ नतमाथ —-

मानउँ, नाथ, अनुग्रह तोरा । पै नहिं गत-संसय मन मोरा।।
जौं राउर मत ग्यान प्रधाना । कर्म सुहृद कत मोर बखाना?
मोहिं भयंकर काज लगाई । का भल देखहु, जदु-कुल-राई?
सुनि तव गूढ़ बचन, भगवाना । भै मति मोरि भ्रमित, हत-ग्याना।।
एक सुनिस्चित पंथ देखाई । दूरि करहु दुबिधा दुखदाई।।

अर्जुन बोले— हे जनार्दन, यदि आप कर्म से ज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं, तो फिर, हे केशव, आप मुझे इस भयंकर कर्म में क्यों लगा रहे हैं ? आप मिश्रित वचनों से मेरी बुद्धि को भ्रमित कर रहे हैं. अतः आप उस एक बात को निश्चित रूप से कहिए, जिससे मेरा कल्याण हो. (३.०१-०२)

अरजुन-जिग्यासा हरि जानी । बोले सुचि, संसय-हर बानी।।
एहि जग महुँ दुइ मग बिख्याता । जिन्हकर लच्छ मोर पद, ताता।।
सांख्य पंथ अपनावहिं ग्यानी । जोग, लोग जे कर्म-प्रधानी।।

श्रीभगवान् बोले— हे निष्पाप अर्जुन, इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गई है. जिनकी रुचि ज्ञान में होती है, उनकी निष्ठा ज्ञानयोग से और कर्म में रुचिवालों की निष्ठा कर्मयोग से होती है. (३.०३)

कर्मारंभ न कर नर जोई । अरजुन, सोउ निष्कर्म न होई।।
कर्मन्हि त्यागि रहइ जो कोई । अरजुन, सोउ नर सिद्ध न होई।।

मनुष्य कर्म का त्यागकर कर्म के बन्धनों से मुक्त नहीं होता. कर्म के त्याग मात्र से ही सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती. (३.०४)

जो जग महुँ मानुष तन धरई । कर्म प्रकृतिगत परबस करई।।
एकउ छन अस बीतत नाहीं । कर्म-निरत नहिं नर जेहि माहीं।।

कोई भी मनुष्य एक क्षण भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता, क्योंकि प्रकृति के गुणों द्वारा मनुष्यों से परवश की तरह सभी कर्म करवा लिए जाते हैं. (३.०५)

जे इंद्रिन्ह कहँ संजत करहीं । पै मन सन बिषयन्हि अनुसरहीं।।
ते नर, अरजुन, बुद्धि-बिकारी । तेइ कहावहिं मिथ्याचारी।।

जो मूढ़बुद्धि मनुष्य इन्द्रियों को (प्रदर्शन के लिए) रोककर मन द्वारा विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी कहा जाता है. (३.०६)

दूसरों की सेवा क्यों ?

सोरठा– मन तें बिषय बिसारि, इंद्रिन्ह तें कर्मन्हि करत।
अनासक्ति चित धारि, चलहिं जे तेई बर पुरुष।।

परन्तु हे अर्जुन, जो मनुष्य बुद्धि द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में करके, अनासक्त होकर, कर्मेन्द्रियों द्वारा निष्काम कर्मयोग का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है. (३.०७)

अरजुन, जन्म-नियत कुरु करमू । एहि बिधि पालन करु निज धरमू।।
कर्म-बिमुख तें कर्म-करंता । भल, अस मानहिं सब मतिमंता।।

तुम अपने कर्तव्य का पालन करो, क्योंकि कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरे शरीर का निर्वाह भी नहीं होगा. (३.०८)

कर्म-बिमुख, जग-जाहिर एहा । चलइ न जीवन-पथ पर देहा।।
कर्म बनइ नर-बंधन सोई । जग्य लच्छ नहिं जाकर होई।।

केवल अपने लिए कर्म करने से मनुष्य कर्मबन्धन से बंध जाता है; इसलिए हे अर्जुन, कर्मफल की आसक्ति त्यागकर सेवाभाव से भलीभांति अपने कर्तव्यकर्म का पालन करो. (३.०९)

जो कृति मोहिं लागि कर जाई । सोइ जग्य, सोइ जोग कहाई।।
सृष्टि-समय जब सृजेन्हि बिधाता । मनुजहि, बिरचेन्हि जग्यहु, ताता।।

सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने सृष्टि के आदि में यज्ञ (अर्थात् निःस्वार्थ सेवा) के साथ प्रजा का निर्माण कर कहा —"इस यज्ञ द्वारा तुम लोग वृद्धि प्राप्त करो और यह यज्ञ तुम लोगों को इष्टफल देनेवाला हो." (३.१०)

कहेन्हि मनुज सन बाँह उठाई – बाढ़हु, बढ़हु जग्य सन जाई।।
जग्य होउ तुम्ह कहँ, नर-नारी । कामधेनु सम सुख-हितकारी।।

तोषहु देवन्हि जग्य रचाई । हरषहु देवन्ह तें बर पाई।।
दीन्ह मिलइ एहि सृष्टि मझारी, होहु परस्पर मंगलकारी।।
तोषें देवन्ह तें बर पाई । अरपेहु तुम्हहु कछुक सुखदाई।।

तुम लोग यज्ञ के द्वारा देवताओं को उन्नत करो और देवगण तुम लोगों को उन्नत करें. इस प्रकार एक दूसरे को उन्नत करते हुए तुम परम कल्याण को प्राप्त होगे. (३.११)

पाइ, दिए बिनु भोगै जोई । ताकहँ चोर कहेहु सब कोई।।
पूर जग्य-फल सोइ नर लेई । जो देइ लेइ, जो पाएँ देई।।

यज्ञ द्वारा पोषित देवगण तुम्हें इष्टफल प्रदान करेंगे. देवताओं के द्वारा दिए हुए भोगों को जो मनुष्य उन्हें बिना दिए अकेला सेवन करता है, वह निश्चय ही चोर है. (३.१२)

बचइ जग्य महँ जोइ सोइ पाई । जोगी पाप-मुक्त होइ जाई।।
निज हित लागि जे करहिं सुआरी । जानेहु तिन्हकहुँ पापाहारी।।

यज्ञ से बचे हुए अन्न को खानेवाले श्रेष्ठ मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाते हैं; परन्तु जो लोग केवल अपने लिए ही अन्न पकाते हैं, वे पाप के भागी होते हैं. (ऋ.वे. १०.११७.०६ भी देखें.) (३.१३)

अन्न तें जनमहिं सब जग-प्रानी । उपजइ अन्न परइ जब पानी।।
पानी बरषइ जग्य प्रतापा । जग्य कर्म बिनु जाइ न थापा।।
आदि कर्म कर समुझहु ग्याना । ग्यान-मूल समुझहु भगवाना।।
जो अनादि, सास्वत, अबिनासी । जो नित कर्म-जग्य-अधिबासी।।

समस्त प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न वृष्टि से होता है, वृष्टि यज्ञ से होती है, यज्ञ कर्म से. कर्म वेदों में विहित है और वेद को अविनाशी ब्रह्म से उत्पन्न हुआ जानो. इस तरह सर्वव्यापी ब्रह्म सदा ही यज्ञ (अर्थात् सेवा) में प्रतिष्ठित है. (४.३२ भी देखें.) (३.१४-१५)

दोहा– अस ध्रुव-चालित-चक्र महिं, जो नहिं परत सुभायँ।
सो भोगी, पापी मरत, जीवन ब्यरथ बिताय।।

हे पार्थ, जो मनुष्य सेवा द्वारा इस सृष्टिचक्र के चलते रहने में सहयोग नहीं देता है, वैसा पापमय, भोगी मनुष्य व्यर्थ ही जीता है. (३.१६)

जो सुख-सांति आपु महुँ पाई । आपु आपु महुँ रहइ समाई।।
अरजुन, देखु, समुझु, मन माहीं । ताकरि गरजि करम तें नाहीं।।

परन्तु जो मनुष्य परमात्मा में ही रमण करता है तथा परमात्मा में ही तृप्त और संतुष्ट रहता है, वैसे आत्मज्ञानी मनुष्य के लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता. (३.१७)

जो करि जाइ, न जो करि जाई । रहइ सो दोउन तें अरगाई।।
सो नहिं राखइ लाग लगाऊ । कतहुँ, कबहुँ, काहूसन, काऊ।।

उसका कर्म करने से या न करने से कोई प्रयोजन नहीं रहता तथा वह (परमात्मा के सिवा) किसी और प्राणी पर आश्रित नहीं रहता. (३.१८)

नेता उदाहरण बनें

तदपि जती सो, सुनु, कपिकेतू । कर्म करइ जग-मंगल हेतू।।
कर्म तहूँ करु, तजि सब रागा । जौं न करसि अस, अहसि अभागा।।
राग-रहित जे कर्म निबहहिं । तेई ब्रह्म-परम-पद पावहिं।।

इसलिए तुम अनासक्त होकर सदा अपने कर्तव्यकर्म का भलीभांति पालन करो, क्योंकि अनासक्त रहकर कर्म करने से ही मनुष्य परमात्मा को प्राप्त करता है. (३.१९)

सुनु, अरजुन, जनकादिक ग्यानी । सिद्ध भए, बनि कर्म-प्रधानी।।
तैं, तिन्हकहुँ आदर्स बनाई । चलु सत्कर्म-सुपथ अपनाई।।

राजा जनक आदि ज्ञानीजन निष्काम कर्मयोग द्वारा परम सिद्धि को प्राप्त हुए थे. लोककल्याण के लिए भी तुम्हारा कर्म करना ही उचित है. (३.२०)

चलहिं बड़े जेहि पथ पग धारी । तेहि पकरहिं सब नर संसारी।।
जो बड़ सिद्ध करइ, असि रीती । सोइ पावइ सबकरि परतीती।।

श्रेष्ठ मनुष्य जैसा आचरण करता है, दूसरे लोग भी वैसा ही आचरण करते हैं. वह जो आदर्श बताता है, जनसमुदाय उसीका अनुसरण करता है. (३.२१)

तीनिहुँ लोक, तिकालहु माहीं । मोहि करतब्य बिहित कछु नाहीं।।
पावै जोग कछुक अस नाहीं । सहज सुलभ नहिं जो मोहि पाहीं।।
कर्म-निरत मैं तदपि निरंतर – मन्वंतर-अंतर-मन्वंतर।।

हे पार्थ, तीनों लोकों में न तो मेरा कोई कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु मुझे अप्राप्त है, फिर भी मैं कर्म करता हूं. (३.२२)

दोहा– पार्थ, प्रमाद, बिराग बस, जौं न करौं मैं काम।
काम छाँड़ि बैठें तुरत, जग नर-नारि तमाम।।

कर्म-बिमुख जौं बैठौं जाई । बैठि जाइ ब्रह्मांड निकाई।।
जीव नसैं, बिगरै बिधि बाँधी । होइँ मोहिं लगि कोटि उपाधी।।

क्योंकि यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूं तो, हे पार्थ, मनुष्य मेरे ही मार्ग का अनुसरण करेंगे. इसलिए यदि मैं कर्म न करूं, तो ये सब लोक नष्ट हो जायेंगे और मैं ही इनके विनाश का तथा अराजकता का कारण बनूंगा. (३.२३-२४)

राग-रँगाइ करइ जो भोगी । सोइ करइ जगती महुँ जोगी।।
पै रहि रागद्वेष उदासी । होइँ न जेहि सालस जग-बासी।।

हे भारत, अज्ञानी लोग जिस प्रकार कर्मफल में आसक्त होकर भलीभांति अपना कर्म करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्य भी जनकल्याण हेतु आसक्तिरहित होकर भलीभांति अपना कर्म करें. (३.२५)

जोगी अस किछु करइ न भनई । रागी, कर्म-बिरागी बनई।।
जेहि बिधि निज करतब्य निबाहइ । सोइ बिधि औरन कहुँ समुझावइ।।

ज्ञानी कर्मफल में आसक्त अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम अर्थात् कर्मों में अश्रद्धा उत्पन्न न करे तथा स्वयं (अनासक्त होकर) समस्त कर्मों को भलीभांति करता हुआ दूसरों को भी वैसा ही करने की प्रेरणा दे. (३.२६ भी देखें.) (३.२६)

जेते कर्म होहिं जग माहीं । होहिं प्रकृतिगत, संसय नाहीं।।
पै तिन्हकहँ आपनि कृति मानी । गर्ब करहिं तेइ जे अग्यानी।।

वास्तव में संसार के सारे कार्य प्रकृति मां के गुणरूपी परमेश्वर की शक्ति के द्वारा ही किए जाते हैं, परन्तु अज्ञानवश मनुष्य अपनेआप को ही कर्ता समझ लेता है (तथा कर्मफल की आसक्तिरूपी बन्धनों से बंध जाता है. मनुष्य तो परम शक्ति के हाथ की कठपुतली मात्र है). (५.०६, १३.२६, १४.१६ भी देखें.) (३.२७)

कर्म-प्रबृत्ति, प्रकृति-गुन ग्याता । पहिचानहिं दोउन कर नाता।।
प्रकृति-बिंब कर्मन्ह बिच देखी । बिग्य न बिसरेहुँ मारहिं सेखी।।

परन्तु हे महाबाहो, गुण और कर्म के रहस्य को जाननेवाले ज्ञानी मनुष्य ऐसा समझकर कि (इन्द्रियों द्वारा) प्रकृति के गुण ही सारे कर्म करते हैं (तथा मनुष्य कुछ भी नहीं करता है) कर्म में आसक्त नहीं होते. (३.२८)

भूलेहुँ राग-निरत नहिं होहीं । अरजुन, उचित रहब अस तोहीं।।
पार्थ, प्रकृति-गुन मोहहिं जाही । कर्म पाँस महँ फाँसहिं ताही।।
सर्बग्यानी कर यह धरमू । करहिं प्रकृति-कर्षित जे करमू।।
तिन्हकहँ कर्म-बिमुख न बनावै । फल प्रति आस-ममत्व मिटावै।।

प्रकृति के गुणों द्वारा मोहित होकर अज्ञानी मनुष्य गुणों के (द्वारा किए गए) कर्मों में आसक्त रहते हैं, उन्हें ज्ञानी मनुष्य सकाम कर्म के मार्ग से विचलित न करें. (३.२६ भी देखें.) (३.२६)

सोरठा– निर्मम आसा-फन्द, भंजि गतज्वर, स्वस्थ-चित।
संगरु करु निर्द्वन्द, अरपित करि मोहि कर्म सब।।

मुझमें चित्त लगाकर, सम्पूर्ण कर्मों (के फल) को मुझमें अर्पण करके, आशा, ममता और संतापरहित होकर अपना कर्तव्य (युद्ध) करो. (३.३०)

जे, कपिकेतु, कुतर्क हटाई । हृदयँ सुदृढ़ श्रद्धा पधराई।।
मोर बतावा पथ अनुसरहीं । कर्म-पाँस महुँ ते नहिं परहीं।।
जे कुतर्क-मति, बुद्धि-बिमूढ़ा । होहिं न मम पथ पर आरूढ़ा।।
ते नहिं जानहिं निज कल्याना । ते नहिं पावहिं कतहुँ ठेकाना।।

जो मनुष्य बिना आलोचना किए, श्रद्धापूर्वक मेरे इस उपदेश का सदा पालन करते हैं, वे कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं; परन्तु जो आलोचक मेरे इस उपदेश का पालन नहीं करते, उन्हें अज्ञानी, विवेकहीन तथा खोया हुआ समझना चाहिए. (३.३१-३२)

प्रकृति-अधीन चलहिं सब प्रानी । जिमि अग्यानी, तिमि बिग्यानी।।
प्रकृति कबहुँ नहिं जाइ दबाई । दमनहु चाहइ प्रकृति सहाई।।
इंद्रीं, पार्थ, प्रबल अति आहीं । निज-निज बिषयन्ह प्रति समुहाहीं।।

सभी प्राणी अपने स्वभाव-वश ही कर्म करते हैं. ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही कार्य करता है. फिर इन्द्रियों के निग्रह का क्या प्रयोजन है ? (३.३३)

बिषयन्ह प्रति जे रागद्वेषा । मनुज करै तिन्हकहँ अवसेषा।।
रागद्वेष, कर्म-पथ ब्याला । अरजुन, इन्हकर दंस कराला।।
छाड़िअ पंथ कि मारिअ साँपा । तोहि एहि दुबिधा कर संतापा।।

दुबिधा-हरन बचन सुनु मोरा । एहि नासिहि सब संसय तोरा।।

प्रत्येक इन्द्रिय के भोग में राग और द्वेष, मनुष्य के कल्याण-मार्ग में विघ्न डालनेवाले, दो महान् शत्रु रहते हैं. इसलिए मनुष्य को राग और द्वेष के वश में नहीं होना चाहिए. (३.३४)

दोषउ मय निज धर्म सुहावा । गुनउ भरा नहिं धर्म परावा।।
भलेहि जाइ जग महुँ सनमाना । भलेहि स्वनिष्ठा सन अनुठाना।।
ब्याल डसें बरु तैं तज प्राना । तजि निज पंथ न गहु पथ आना।।

अपना गुणरहित सहज और स्वाभाविक कार्य आत्मविकास के लिए दूसरे अच्छे अस्वाभाविक कार्य से श्रेयस्कर है. स्वधर्म के कार्य में मरना भी कल्याणकारक है. अस्वाभाविक कार्य हानिकारक होता है. (१८.४७ भी देखें.) (३.३५)

हरि सन सुनि अस, कुरु-कुल-नाथा । पूँछा पार्थ पुनः नत माथा —-

दोहा— केहि प्रेरा, चाहेहु बिना, मोकहुँ सूझत नाहिं।
गरुड़ध्वज, परबस मनुज, पाप करत जग माहिं?

अर्जुन बोले— हे कृष्ण, न चाहते हुए भी बलपूर्वक बाध्य किए हुए के समान किससे प्रेरित होकर मनुष्य पाप का आचरण करता है ? (३.३६)

काम पाप का मूल है

सुनि अस बोले श्री भगवाना । अरजुन जाइ जो पाप बखाना।।
काम-कोह तजि दूसर नाहीं । इन्हकर मूल रजोगुन माहीं।।
ए दुहु पाप करावनिहारे । ए न अघाहिं, अघी अति भारे।।
ए नर के बैरी बिकराला । एई कर्म-जोग-पथ-ब्याला।।

श्रीभगवान् बोले— रजोगुण से उत्पन्न यह काम है, यही क्रोध है, कभी भी पूर्ण नहीं होनेवाले इस महापापी काम को ही तुम (आध्यात्मिक मार्ग का) शत्रु जानो. (३.३७)

धूम्र-जाल जिमि झंपइ आगी । धूरि झँपइ जिमि मुकुर अदागी।।
आँवर झँपइ गर्भ जेहि भाँती । मेघ झँपइ जिमि उडगन-पाँती।।
काम-कोह तिमि झंपहिं ग्याना । इन्हकहँ निज रिपु समुझु, सुजाना।।
सहज बुझइ नहिं इन्हकरि ज्वाला । इन्हतें सब नर-नारि बेहाला।।

जैसे धुएं से अग्नि और धूलि से दर्पण ढक जाता है तथा जेर से गर्भ ढका रहता है, वैसे ही काम आत्मज्ञान को ढक देता है. (३.३८)

हे कौन्तेय (अर्जुन), अग्नि के समान कभी तृप्त न होनेवाले, ज्ञानियों के नित्य शत्रु, काम, के द्वारा ज्ञान ढक जाता है. (३.३९)

ए बसि इंन्द्रिय-मन-बुधि माहीं । इंन्द्रिय-मन-बुधि कहँ बलकाहीं।।
एहि बिधि हरहिं मनुज कर ग्याना । अग्यानी कर कहँ कल्याना?

इन्द्रियां, मन और बुद्धि काम के निवास-स्थान कहे जाते हैं. यह काम इन्द्रियां, मन और बुद्धि को अपने वश में करके ज्ञान को ढककर मनुष्य को भटका देता है. (३.४०)

काम पर विजय कैसे पाएं

तातें, पार्थ, प्रथम करु सोई । जेहिं इंद्रिन्ह पर अंकुस होई।।
सुनु, जे इंद्रिन्ह के बस नाहीं । काम-कोह तिन्हकें बस माहीं।।
इन्हकहँ ग्यान-बिनासक जानी । अरजुन, लरु इन्हसन रन ठानी।।
इन्हकहँ पाप-मूल पहिचानी । राखु न इन्हकर नाम, निसानी।।

इसलिए हे अर्जुन, तुम पहले अपनी इन्द्रियों को वश में करके, ज्ञान और विवेक के नाशक इस पापी कामरूपी शत्रु का विनाश करो. (३.४१)

इंद्रीं आहिं प्रबल, मैं माना । पै मन इंद्रिन्ह तें बलवाना।।
प्रबल मनहुँ तें बुद्धि कहाई । बुद्धिहु तें बड़ बुद्धि कर साईं।।

इन्द्रियां शरीर से श्रेष्ठ कही जाती हैं, इन्द्रियों से परे मन है और मन से परे बुद्धि है और आत्मा बुद्धि से भी अत्यन्त श्रेष्ठ है. (कठ.उ. ३.१० तथा गीता ६.०७-०८ भी देखें.) (३.४२)

दोहा– सोइ आतम तें साधि बुधि, बुधि तें मन कहुँ साधु।
मन तें इंद्रिन्हि साधि, तैं काम कोह कहुँ नाधु।।
सोरठा– अरजुन, बिजई सोइ, काम-कोह जो मारि सक।
यह तब संभव होइ, मोरि सरन जब नर गहइ।।

इस प्रकार आत्मा को मन और बुद्धि से श्रेष्ठ जानकर, (सेवा, ध्यान, पूजन आदि से की हुई शुद्ध) बुद्धि द्वारा मन को वश में करके, हे महाबाहो, तुम इस दुर्जय कामरूपी शत्रु का विनाश करो. (कठ.उ. ३.०३-०६ भी देखें.) (३.४३)

इति कर्मयोग नामक तृतीयोऽध्यायः

Page Break

अथ चतुर्थोऽध्यायः

४. ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

कर्मयोग पुरातन विस्मृत निर्देश है

दोहा– बिबस्वान मोसन सुनेन्हि, प्रथम जोग उपदेस।
तिन्हसन मनु, मनु सन सुनेन्हि, पुनि इच्छ्वाकु नरेस।।

अरजुन, सुनु, सोइ जोग सुहावा । कहत-सुनत जुग-जुग चलि आवा।।
बहुतक राजरिषिन्ह सोइ जाना । पुनि जग तें सो जोग बिलाना।।
आपुन भगत-सखा तोहि जानी । जोग पुरातन कहेउँ बखानी।।
तोहिसन कहेउँ जो एहिकर भेदा । ताहि न जानहिं सास्त्र न बेदा।।

श्रीभगवान् बोले– मैंने कर्मयोग के इस अविनाशी सिद्धान्त को सूर्यवंशी राजा विवस्वान् को सिखाया, विवस्वान् ने अपने पुत्र मनु से कहा तथा मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को सिखाया. इस प्रकार परम्परा से प्राप्त हुए कर्मयोग को राजर्षियों ने जाना; परन्तु हे परन्तप, बहुत दिनों के बाद यह ज्ञान इस पृथ्वीलोक में लुप्त-सा हो गया. तुम मेरे भक्त और प्रिय मित्र हो, इसलिए वही पुरातन कर्मयोग आज मैंने तुम्हें कहा है, क्योंकि यह कर्मयोग एक उत्तम रहस्य है. (४.०१-०३)

उपजेउ अरजुन-मन संदेहा । कृष्न, धरेउ तुन्ह द्वापर देहा।।
कल्पारंभ बिबस्वत भयऊ । केहि बिधि जोग तिन्हहि तुम दयऊ?

अर्जुन बोले– आपका जन्म तो अभी हुआ है तथा सूर्यवंशी राजा विवस्वान् का जन्म सृष्टि के आदि में हुआ था, अतः मैं कैसे जानूं कि आप ही ने विवस्वान् से इस योग को कहा था ? (४.०४)

बिहँसि कहेउ बसुदेव-कुमारा । मैं प्रगटेउँ जग महुँ बहु बारा।।
तोरउ जनम अनेक-अनेका । इन्हकर तोहि नहिं, मोहिं बिबेका।।

श्रीभगवान् बोले– हे अर्जुन, मेरे और तुम्हारे बहुत सारे जन्म हो चुके हैं, उन सबको मैं जानता हूं, पर तुम नहीं जानते. (४.०५)

जद्यपि मैं अज, नित, अबिनासी । जद्यपि सृष्टि सकल मम दासी।।

तदपि प्रकृति अनुरूप बनाई । प्रगटउँ निज मायहिं उकिसाई।।

यद्यपि मैं अजन्मा, अविनाशी तथा समस्त प्राणियों का ईश्वर हूं, फिर भी अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी योगमाया से प्रकट होता हूं. (१०.१४ भी देखें.) (४.०६)

जब-जब धर्म रसातल जाई । रहइ अधर्म धरा पर छाई।।
तब-तब, मोर नियम, कपिकेतू । देह धरउँ जग मंगल हेतू।।
करउँ कुकर्मिन्ह कर संघारा । करउँ सुकर्मिन्ह कर उद्धारा।।
नीति मोरि जुग-जुग चलि आई । थापउँ धर्म, अधर्म हटाई।।

हे अर्जुन, जब-जब संसार में धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब अच्छे लोगों की रक्षा, दुष्टों का संहार तथा धर्म की संस्थापना के लिए मैं, परब्रह्म परमात्मा, हर युग में अवतरित होता हूं. (तु.रा. १.१२०.०३-०४ भी देखें.) (४.०७-०८)

दोहा– दिब्य जन्म अरु कृत्य मम, जो समुझइ सति भायँ।
देह त्यागि जन्मइ न पुनि, मोहिमहुँ जाइ समाय।।

हे अर्जुन, मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं. इसे जो मनुष्य भलीभांति जान लेता है, उसका मरने के बाद पुनर्जन्म नहीं होता तथा वह मेरे लोक, परमधाम, को प्राप्त करता है. (४.०९)

राग-रोष-भय दूरि हटाई । मोरि सरन गहि, मोहि निअराई।।
ग्यान-तपस्चर्जा सन पूता । पाइ चुके मम चरन बहूता।।

राग, भय और क्रोध से रहित, मुझमें तल्लीन, मेरे आश्रित तथा ज्ञानरूपी तप से पवित्र होकर, बहुत-से मनुष्य मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं. (४.१०)

प्रार्थना और भक्ति का मार्ग

ध्यावहिं जे मोकहुँ जेहि भाँती । पावहिं ते मोकहुँ तेहि भाँती।।
भेद समुझि यह, मम-पद-कामी । बेगि बनहिं मम-पथ-अनुगामी।।

हे अर्जुन, जो भक्त जिस किसी भी मनोकामना से मेरी पूजा करते हैं, मैं उनकी मनोकामना की पूर्ति करता हूं. मनुष्य अनेक प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति के लिए मेरी शरण लेते हैं. (४.११)

कर्म-सिद्धि-प्रिय जे जग माहीं । देवन्ह पहिं बहु जग्य रचाहीं।।
सिद्धि मिलइ तिन्हकँ अबिलंबा । मिलइ न मोर चरन अवलंबा।।

कर्मफल के इच्छुक संसार के साधारण मनुष्य देवताओं की पूजा करते हैं, क्योंकि मनुष्यलोक में कर्मफल शीघ्र ही प्राप्त होते हैं. (४.१२)

अरजुन, गुन-कर्मन्हि बिलगाई । चौबरनी बिधि मोरि बनाई।।
बदलइ, बनइ जो बिरचइ, ताता । नित, अब्यय मैं जदपि बिधाता।।

मेरे द्वारा ही चारो वर्ण अपने-अपने गुण, स्वभाव और रुचि के अनुसार बनाए गए हैं. सृष्टि की रचना आदि कर्म के कर्ता होनेपर भी मुझ परमेश्वर को अविनाशी और अकर्ता ही जानना चाहिए. (क्योंकि प्रकृति के गुण ही संसार चला रहे हैं). (१८.४१ भी देखें.) (४.१३)

मोहिं कर्म-फल महँ नहिं चाऊ । परइ न मोपर कर्म-प्रभाऊ।।
जे जानहिं अस मोर सुभाऊ । तिन्हकहँ कर्म न बाँधहिं काऊ।।

मुझे कर्म का बन्धन नहीं लगता, क्योंकि मेरी इच्छा कर्मफल में नहीं रहती है. इस रहस्य को जो व्यक्ति भलीभांति समझकर मेरा अनुसरण करता है, वह भी कर्म के बन्धनों से नहीं बंधता है. (४.१४)

अस जियँ जानि, मोच्छ-पद-कामी । पहिलेहुँ भए कर्म-पथ गामी।।
पूर्बज गए जो पथ अपनाई । सोइ पथ पकरेहिं तोरि भलाई।।

प्राचीन काल के मुमुक्षुओं ने इस रहस्य को जानकर कर्म किए हैं. इसलिए तुम भी अपने कर्मों का पालन उन्हीं की तरह करो. (४.१५)

कर्म-अकर्म बिभेद निगूढ़ा । बुधहु न बूझहिं किमि पुनि मूढ़ा?
मैं तोकहुँ सोइ भेद बताई । दैहउँ तुअ भव-छंद छोराई।।

विद्वान् मनुष्य भी भ्रमित हो जाते हैं कि कर्म क्या है तथा अकर्म क्या है, इसलिए मैं तुम्हें कर्म के रहस्य को समझाता हूं; जिसे जानकर तुम कर्म के बन्धनों से मुक्त हो जाओगे. (४.१६)

सोरठा— अरजुन, अंतर जान; कर्म, बिकर्म, अकर्म महुँ।
करु मम बचन प्रमान; गूढ़ गहन अति कर्म-गति।।

सकाम कर्म, विकर्म अर्थात् पापकर्म तथा निष्कामकर्म (अर्थात् अकर्म) के स्वरूप को भलीभांति जान लेना चाहिए, क्योंकि कर्म की गति बहुत ही न्यारी है. (४.१७)

करमी महुँ गत-राग अकरमी । कर्म-बिमुख महुँ रागी करमी।।
अरजुन, देखि सकइ जो मरमी । सोइ प्रबुद्ध, जोगी, सब-करमी।।

जो मनुष्य कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म देखता है, वही ज्ञानी, योगी तथा समस्त कर्मों का करनेवाला है. (अपने को कर्ता नहीं मानकर प्रकृति के गुणों को ही कर्ता मानना कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म देखना कहलाता है.) (३.०५, ३.२७, ५.०८, १३.२६ भी देखें.) (४.१८)

जो करि कर्म सकल निहकामा । निःसंकल्प, बिरत-परिनामा।।
ग्यान-अगिनि महुँ अरपइ सोई । पार्थ, परम होता सम होई।।

जिसके सारे कर्मों के संकल्प ज्ञानरूपी अग्नि से जलकर स्वार्थरहित हो गए हैं, वैसे मनुष्य को ज्ञानीजन पण्डित कहते हैं. (४.१९)

सर्ब कर्म-फल तें अरगाना । करतापन कर तजि अभिमाना।।
मोहि गहि, सबकर त्यागि अधारा । नित्य-तृप्त जो करइ अचारा।।
करमउ करत सो रहइ अकरमी । चरत स्वधर्म, परात्पर धरमी।।

जो मनुष्य कर्मफल में आसक्ति का सर्वथा त्यागकर, परमात्मा में नित्यतृप्त रहता है तथा (भगवान् के सिवा) किसी का आश्रय नहीं लेता, वह कर्म करते हुए भी (वास्तव में) कुछ भी नहीं करता है (तथा अकर्म रहने के कारण कर्म के बन्धनों से सदा मुक्त रहता है.). (४.२०)

सर्ब परिग्रह तजि, सब आसा । जो इंद्रिय, मन, बुधि कहँ सासा।।
तासु कर्म, केवल तन हेतू । पाप बनइ नहिं, सुनु, कपिकेतू।।

जो आशारहित है, जिसके मन और इन्द्रियां वश में हैं, जिसने सब प्रकार के स्वामित्व का परित्याग कर दिया है, ऐसा मनुष्य शरीर से कर्म करता हुआ भी पाप (अर्थात् कर्म के बन्धन) को प्राप्त नहीं होता है. (४.२१)

जो नहिं इरिषा के बस होई । सोइ सन तोषइ पावइ जोई।।
जाकहँ दुख-सुख एक समाना । सिद्धि-असिद्धि-बिभेद अजाना।।
करमउ करत करम नहिं करई । कबहुँ न भव-बंधन महुँ परई।।

अपनेआप जो कुछ भी प्राप्त हो, उसमें संतुष्ट रहनेवाला, द्वन्द्वों से अतीत, ईर्ष्या से रहित तथा सफलता और असफलता में समभाववाला कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी कर्म के बन्धनों से नहीं बंधता है. (४.२२)

ग्यानस्थित-चित, बिगत-बिमोहा । द्वंद-बिमुक्त, समासन-सोहा।।
जग्य लागि प्रति कृत कर जोई । तासु कर्म सब स्वाहा होई।।

जिसकी ममता तथा आसक्ति सर्वथा मिट गयी है, जिसका चित्त ज्ञान में स्थित है, ऐसे परोपकारी मनुष्य के कर्म के सभी बन्धन विलीन हो जाते हैं. (४.२३)

दोहा– ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्माग्नि महुँ; ब्रह्माहुति, ब्रह्मार्थ।
देई जो पावइ ब्रह्म-फल; ब्रह्म-कर्म करि पार्थ।।

यज्ञ का अर्पण, घी, अग्नि तथा आहुति देनेवाला सभी परब्रह्म परमात्मा ही है. इस तरह जो सब कुछ में परमात्मा का ही स्वरूप देखता है, वह परमात्मा को प्राप्त होता है. (४.२४)

कोउ जोगी देवन्ह कहँ ध्यावइ । तिन्हकें प्रति बहु जग्य रचावइ।।
कोउ मन महुँ अस जग्य सँकल्पइ । जग्य-कर्म ब्रह्माग्नि समर्पइ।।

कोई योगीजन देवताओं का पूजनरूपी यज्ञ करते हैं और दूसरे ज्ञानीजन ब्रह्मरूपी अग्नि में यज्ञ के द्वारा (ज्ञानरूपी) यज्ञ का हवन करते हैं. (४.२५)

कोउ जोगी इंद्रिन्हि बरिआई । संजमाग्नि महुँ देइ जराई।।
कोउ बिषयन्ह कहँ, आहुति बनई । इंन्द्रियाग्नि महुँ अर्पित करई।।

अन्य योगी लोग श्रोत्रादि समस्त इन्द्रियों (के बिषयों) का संयमरूपी अग्नि में हवन करते हैं तथा कुछ लोग शब्दादि विषयों का इन्द्रियरूपी अग्नि में हवन करते हैं. (४.२६)

कोउ जोगी इंद्रिय-मन-प्राना– तीनिउँ कृत करमन्ह कहँ नाना।।
देइ आत्म-संजम सन जोरी । जोग-अगिनि जो ग्यान-अँजोरी।।

दूसरे योगीजन सम्पूर्ण इन्द्रियों के और प्राणों के कर्मों का ज्ञान से प्रकाशित आत्मसंयमयोगरूपी अग्नि में हवन करते हैं. (४.२७)

द्रब्य-जग्य जोगी कर कोई । कोउ तप-जोग-जग्य-रत होई।।
अनुसासन महुँ मन कहुँ देई । कठिन साध्य ब्रत तन पर लेई।।
सास्त्र-मनन-मख कोउ-कोउ रचहीं । ग्यान-जग्य महुँ कोउ-कोउ पचहीं।।

दूसरे साधक द्रव्ययज्ञ, तपयज्ञ तथा योगयज्ञ करते हैं और अन्य कठिन व्रत करनेवाले स्वाध्याय और ज्ञानयज्ञ करते हैं. (४.२८)

कोउ अपान महुँ अरपइ प्राना । कोउ परान महुँ अरप अपाना।।
प्रानायाम-परायन कोऊ । होइ, रूँधि साँसन्ह कहँ दोऊ।।

दूसरे कितने ही प्राणायाम करनेवाले योगीजन प्राण और अपान की गति को– अपानवायु में प्राणवायु का तथा प्राणवायु में अपानवायु का (क्रियायोग के द्वारा) हवन कर– रोक लेते हैं. (४.२९)

कोउ जोगी रहि मित आहारी । प्रान समरपइ प्रान मझारी।।

ए सब जानहिं जग्य-प्रभाऊ । पार्थ, जग्य सब पाप नसाऊ।।

दूसरे साधक नियमित आहार करके प्राणवायु में प्राणवायु का हवन करते हैं. ये सभी यज्ञों को जाननेवाले हैं तथा यज्ञ के द्वारा इनके पाप नष्ट हो जाते हैं. (४.३०)

दोहा– पाइ जग्य सेषामृतहि, जोगी पावइ मोहिं।
जग्य-रहित हित जगहु नहिं, स्वर्ग सुलभ किमि होहि?

हे कुरुश्रेष्ठ (अर्जुन), यज्ञ के प्रसादरूपी ज्ञानामृत को प्राप्तकर योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करते हैं. यज्ञ न करनेवाले मनुष्य के लिए परलोक तो क्या, यह मनुष्य-लोक भी सुखदायक नहीं होता. (४.३८, ५.०६ भी देखें.) (४.३१)

अस बहु बिधि मख बेद बखाने । तिन्हकहँ कर्म-जनित पहिचानें।।
अरजुन, मोर बचन करु काना । टूटिहि तुअ भव-बंध-बिताना।।

वेदों में ऐसे अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया गया है. उन सब यज्ञों को तुम (शरीर, मन और इन्द्रियों की) क्रिया द्वारा सम्पन्न होनेवाले जानो. इस प्रकार जानकर तुम (कर्मबन्धन से) मुक्त हो जाओगे. (३.१४ भी देखें.) (४.३२)

ज्ञानयोग श्रेष्ठतर आध्यात्मिक अभ्यास है

द्रब्यादिक मख जे जग माहीं । ग्यान-जग्य तें घटि सब आहीं।।
कोउ अस कर्म नाहिं जग माही । जाकर अंत ग्यान महुँ नाहीं।।

हे परंतप अर्जुन, ज्ञानयज्ञ द्रव्ययज्ञ से श्रेष्ठ है, क्योंकि, हे पार्थ, तत्त्वज्ञान की प्राप्ति ही सारे कर्मों का लक्ष्य अर्थात् पराकाष्ठा है. (४.३३)

तातें ग्यानिन्ह पहिं तैं जाई । पूछु पायँ परि, करि सेवकाई।।
तेइ अंतर-द्रष्टा बिग्यानी । कहिहहिं ग्यान-महत्व सुबानी।।

उस तत्त्वज्ञान को तुम ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के पास जाकर, उन्हें आदर, जिज्ञासा तथा सेवा से प्रसन्न करके सीखो. तत्त्वदर्शी ज्ञानी मनुष्य तुम्हें तत्त्वज्ञान का उपदेश देंगे. (४.३४)

तिन्हतें पाइ ग्यान-उँजियारी । हटिहि, कटिहि तुअ भ्रम-तम भारी।।
तैं देखिहसि सब जग निज माहीं । निज कहुँ मोहि तजि दूसर नाहीं।।

जिसे जानकर तुम पुनः इस प्रकार भ्रम को नहीं प्राप्त होगे; तथा, हे अर्जुन, इस ज्ञान के द्वारा तुम संपूर्ण भूतों को आत्मा – अर्थात् मुझ परब्रह्म परमात्मा – में देखोगे. (६.२६, ६.३०, ११.०७, ११.१३ भी देखें.) (४.३५)

जौं तैं पापिन्ह महुँ आस पापी । जातें बाढ़ि न कतहुँ, कदापी।।
तबहुँ ग्यान-तरनी असवारा । करिहसि पार प्रखर-अघ-धारा।।

सब पापियों से अधिक पाप करनेवाला मनुष्य भी सम्पूर्ण पापरूपी समुद्र को ब्रह्मज्ञानरूपी नौका द्वारा निस्सन्देह पार कर जायगा. (४.३६)

दोहा– पावक-ज्वाला काठ कहुँ; जारि करइ जिमि छार।
ग्यान-अगिनि सब कर्म कहुँ; पार्थ, देइ तिमि जार।।

क्योंकि हे अर्जुन, जैसे प्रज्वलित अग्नि लकड़ी को जला देती है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि कर्म (के सारे बन्धनों) को भस्म कर देती है. (४.३७)

अरजुन, मन महुँ देखु बिचारी । ग्यान सरिस नहिं पावनकारी।।
जोगसिद्धि नर आपुहि जानहिं । अंतर-अनुभव-बल अस मानहिं।।

इस संसार में तत्त्वज्ञान के समान (अन्तःकरण को) शुद्ध करनेवाला निस्संदेह कुछ भी नहीं है. उस तत्त्वज्ञान को, ठीक समय आने पर, कर्मयोगी अपने-आप प्राप्त कर लेता है. (४.३१, ५.०६ भी देखें.) (४.३८)

संजत इंद्रिन्हि दीप बनाई । तत्पर मति कइ बाति लगाई।।
उर-महँ श्रद्धा-स्नेह भराई । जाइ ग्यान कइ जोति जगाई।।
जागें ग्यान, तिमिर हटि जाई । कोह-मोह, भ्रम-भय कटि जाई।।
सांति अनंत मिलइ अबिलंबा । मिलइ सपदि मम पद अवलंबा।।

श्रद्धावान्, साधन-परायण और जितेन्द्रिय मनुष्य तत्त्वज्ञान को प्राप्तकर शीघ्र ही परम शान्ति को प्राप्त करता है. (४.३६)

श्रद्धा-स्नेह रहित नर जोई । ताहि ग्यान कर बोध न होई।।
जामहुँ ग्यान-प्रकास न जागा । ताकर संसय कबहुँ न भागा।।
जासु हृदय संसय कर बासा । तासु होइ निःसंसय नासा।।
ताकर नहिं सुख, नहिं संसारा । बादि सरग हित हाथ पसारा।।

विवेकहीन, श्रद्धाहीन तथा संशय करनेवाले (नास्तिक) मनुष्य का पतन होता है. संशय करनेवाले के लिए न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है. (४.४०)

ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों ही मोक्ष के लिए अनिवार्य

पार्थ, ग्यान-बल संसय टारी । जोग-समस्थिरता चित धारी।।
राखि मोहिं निज अंतर माहीं । अरपित करि निज कहुँ मोहि पाहीं।।
जब नर कर्म करत जग माहीं । कर्म बनत नहिं बंधन ताही।।

हे धनंजय अर्जुन, जिसने कर्मयोग के द्वारा समस्त कर्मों को परमात्मा में अर्पण कर दिया है तथा ज्ञान और विवेक द्वारा जिसके (परमात्मा के बारे में) समस्त संशयों का विनाश हो चुका है, ऐसे आत्मज्ञानी मनुष्य को कर्म नहीं बांधते हैं (४.४१)

दोहा– तातें रहि जोगस्थ तैं, ग्यान-खरग कर धारु।
मोह-जनित संसय सकल, रिपु सम समर सँघारु।।

इसलिए, हे भरतवंशी अर्जुन, तुम अपने मन में स्थित इस अज्ञानजनित संशय को ज्ञानरूपी तलवार द्वारा काटकर समत्वरूपी कर्मयोग में स्थित होकर अपना कर्म (अर्थात् युद्ध) करो. (४.४२)

इति ज्ञान कर्मसंन्यास योग नामक चतुर्थोऽध्यायः

more under preparation.......